© 2017 IJSRSET | Volume 3 | Issue 8 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099

मूल रस एवम् एक रसवाद : एक विमर्श

दिनेश सरोज

शोधच्छात्र
संस्कृत–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

भारतीय काव्य चिन्तन जगत में एक ओर जहाँ रसों की अनन्तता की स्थापना के प्रयत्न हो रहे थे, तो वहीं पर दूसरी ओर समस्त रसों को एक रस में समाहार करने का भी प्रयास चल रहा था। और यह अस्वभाविक भी है क्योंकि विस्तार प्रिय होने के बाद भी अन्ततः भारतीय दृष्टि अद्वैत पर ही जाकर टिकती है। अनेकता में एकता का अनुसंधान ही हमेशा उसका अभीष्ठ रहा है। अतः रस के क्षेत्र में भी रस के भेद तथा प्रभेदों के विस्तार के साथ ही विभिन्न रसों का एक रस में समाहार करने का उपक्रम निरन्तर होता रहा है।

ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार सर्वप्रथम 'एको रसः करुण एव'' अर्थात् 'करुण' को एकमात्र रस कहकर आचार्य भवभूति ने एक रसवाद की कल्पना का सूत्रपात किया। उत्तररामचरित में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में भवभूति ने तपसा के माध्यम से घोषणा की है–

एको रसःकरुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।।[1]

आचार्य भवभूति की मान्यतानुसार एक ही करुण रस निमित्त भेद से विभिन्न रूप धारण करता है, जिस तरह से आवर्त, बुद्बुद और तरङ्ग के रूप को धारण करने के पश्चात् भी जल अन्ततः जल ही रहता है। यहाँ पर दिये गये उपर्युक्त इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित विकल्प हो सकते हैं।

प्रथम विकल्प में यह केवल एक विशिष्ट पात्र तमसा का एक विशेष नाटकीय परिस्थिति में काव्यमय उद्गार है। नाटक का वातावरण पूर्णतः करुणामय हो गया था– सीता, राम एवं वासंती

[1]. उत्तररामचरित्र 3.46

सब के हृदय करुणार्द्र थें उस परिस्थिति का ही वाचिक प्रतीक है यह श्लोक। अतएव इसे शास्त्रवाक्य के रूप में स्वीकार कर लेना कदाचित् उचित नहीं होगा।

'द्वितीय विकल्प के रूप में यदि इसको पात्र के माध्यम से कवि का ही उद्‌गार मान लिया जाय तो उस पर भी यह उद्‌गार उस सम्पूर्ण करुणाप्लावित नाटक का 'भावार्थ' ही है न कि शास्त्रीय स्थापना।

तृतीय विकल्प के रूप में माना जा सकता है कि महाकवि भवभूति की यह सिद्धान्तिक मान्यता है जिसको उन्होंने नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया है।

प्रथम दो संम्भावनाओं को स्वीकार करते हुये भी संस्कृत के विद्वज्जनों ने तृतीय विकल्प को ही प्रायः ग्रहण कर लिया है।

'रस सिद्धान्त' में डॉ0 नागेन्द्र ने प्रस्तुत प्रसङ्‌ग में उत्तररामचरित के टीकाकार 'वीरराघव' के दो तर्को को उल्लेखित किया है।[2] टीकाकार का मत है कि मूल या एकमात्र प्रधान रस केवल करुण है। ये कहते हैं कि जीवन में करुण का ही प्राचुर्य वा व्यापकता है और दूसरी बात रागी व विरागी दोनों ही करुण रस का अनुभव करते हैं। जबकि श्रृङ्‌गारादि रसों का अनुभव केवल रागी व्यक्ति को ही होता है।

आचार्य भवभूति के करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' न होकर 'करुणा' है, और यह दया की नहीं बल्कि व्यापक अर्थ में सहृदयता की हृदय–द्रुति की द्योतक है। इसी व्यापक अर्थ में भवभूति ने 'करुण' को 'मूल रस' माना है। आचार्य शंकुक ने करुणा का यही अर्थ स्वीकार किया था :–

सदयहृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा। सा
लिङ्‌गैरनुकर्त्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति तत्र
करुणत्यपदेशः इति श्रीशंकुकः।

आचार्य भवभूति के पश्चात लगभग चार शताब्दी के बाद अभिनवगुप्त ने 'शान्त' रस को मूल रस के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'शान्त' रस का स्थायीभाव 'आत्मज्ञान' है। यह संसारिक विषय वासनाओं से रहित होकर शुद्ध व आनन्दरूप है।[3] अतः शान्त रस का स्थायी भाव ही सभी रसों के रसत्व का मूल आधार है, क्योंकि रसानन्द आत्मानन्द के तुल्य है। सभी रसों के रसत्व का

[2]. डॉ0 नागेन्द्र रस–सिद्धान्त पृ0353–358।।
[3]. तेनात्मैवज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पित विषयो रहितोऽत्रस्थायी अभिनवगुप्त, अभिनव भारती पृ0 339

मूल आत्मानन्द या आत्मास्वाद है और यही आत्मास्वाद एक प्रकार से 'शान्त' रस का स्थायी भाव है।[4] अभिनवगुप्त का विचार है कि तत्वज्ञान या आत्मज्ञान रूप शान्त रस का स्थायीभाव अन्य सभी रसों के स्थायी भावों से अधिक स्थायी है। तथा रति आदि स्थायीभाव इसी आत्मज्ञान रूप स्थायी भाव में ही व्यभिचरित होते हैं। यही कारण है कि यह निसर्गतः या स्वभावतः स्थायी भाव है। इन्होंने समस्त रसों को शान्त रस में समाहित कर दिया है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि हेतु नाट्य शास्त्र की इस कारिका को प्रस्तुत किया है–

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवप्रलीयते।।

इत्यादिनां रसान्तर प्रकृतत्त्वंमुपसंहृतम्।[5]

यह विवेचन निश्चय ही अभिनवगुप्त से पूर्व का है, क्योंकि अभिनवगुप्त जी ने इसे अभिनवभारती में स्वयं के मत की पुष्टि में लिखा है।[6] इसे डा0 नागेन्द्र ने प्रक्षिप्त माना है किन्तु अभिनवगुप्त से पूर्व का स्वीकार किया है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त के अनुसार मूल या एकमात्र रस 'शान्त' है। इससे अन्यत्र समस्त रस 'शान्त' रस का ही एक रूप है, तथा शान्त से ही उत्पन्न होते और शान्त में ही विलीन हो जाते हैं।

लगभग इसी समय भोजराज ने शृङ्गार को ही एक मात्र रस के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि प्राचीन आचार्य दश रसों की कल्पना तो करते आये हैं तथापि आस्वादनीयता केवल शृङ्गार में ही है, इसलिए हमें केवल शृङ्गार ही समीचीन है।

उन्होंने अहङ्कार को आत्मा का विशिष्ट गुण कहा है और यही अभिमान तथा शृङ्गार है, और यही रस है। अहङ्कार अनुकूल परिस्थितियों में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भाव के द्वारा आनन्द के रूप में संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। इसी शृङ्गार से रति–हास आदि भाव उत्पन्न होते हैं। वे सब भाव ही हैं तथा वे स्वयं रसत्व को प्राप्त नहीं होते। वह तो प्रकाश की किरणों से सोभायमान अग्नि के तुल्य शृङ्गार की शोभा बढ़ाते हैं। शृङ्गार ही चतुवर्ग का कारण है तथा वही 'रस' है।

अग्निपुराण का शृङ्गार सिद्धान्त इसी का रूपान्तर है। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि अग्नि पुराण का सिद्धान्त भोजराज कृत सिद्धान्त का रूपान्तर है अथवा भोजराज कृत

---

[4]. अभिनव भारती पृ0 334

[5]. नाट्य शास्त्र –684

[6]. हिन्दी अभिनवभारती – पृ0 637

सिद्धान्त अग्निपुराण का रूपान्तर है। क्योंकि दोनों का सार एक ही है। दोनों के मत में आत्मा का मूल धर्म या विशिष्ट गुण अहङ्कार ही है। किञ्चित् भिन्नता यह है कि भोज के मत में अहङ्कार ही अभिमान है और यही शृङ्गार अथवा रस है, तथा अग्नि पुराणानुसार अहङ्कार एवं अभिमान में तथा फिर अभिमान एवं रति में जनक–जन्य सम्बन्ध है न कि पर्याय सम्बन्ध। ततोऽ भिमानः.....

इसके अतिरिक्त भोज मानते हैं कि रति शृङ्गार प्रभाव एवं रस–परिणति में असमर्थ है और अग्निपुराणनुसार व्यभिचारि आदि भाव से युक्त रति ही शृङ्गार का रूप धारण कर लेती है तथा अन्य सभी रस इसी के भेद हैं। उनके भी अपने–अपने स्वतन्त्र लक्षण तथा स्थायी भाव है।

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।

स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणाः।।

वस्तुत यह मौलिक भेद न होकर मात्र कथन भेद है।

यद्यपि भोज व अग्निपुराण के मत में कुछ भिन्नता है तथापि दोनों ही 'शृङ्गार' को मूल रस मानते है। यह निर्विवाद है।

नारायण पण्डित ने अद्भुत को मूल रस माना है। नारायण पण्डित जी आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह हैं। कविराज ने साहित्यदर्पण के रस–प्रसङ्ग में अपने पूर्ववर्ती धर्मदत्त के आधार पर यह सूचित किया है–

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।

तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

अर्थात धर्मदत्त ने कहा कि समस्त रसों में चमत्कार ही प्रधान रूप से प्रतीत होता है। तथा चमत्कार के प्रधान रूप (स्थायी) होने से सभी जगह पर अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। अतः नारायण पण्डित केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।[7]

प्रस्तुत सिद्धान्त का आधार 'चमत्कार' है। अभिनवगुप्तानुसार चमत्कार का अर्थ इस प्रकार किया गया है– **सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः ..... स चातृप्तिव्यतिरेकेणाऽवच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते।।[8]**

---

[7]. सा0द0विमला टीका 1953, पृ0 49।

[8]. हिन्दी अभिनवभारती पृ0 471–72।

अन्ततः वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस को प्रतिष्ठापित किया तथा 'भक्तिरस' को ही मूल रस घोषित किया। मधुसूदन एवं रूप गोस्वामी आदि आचार्यों के मत में वास्तविक रस 'भक्तिरस' ही है, क्योंकि वह पूर्णानन्दमय है। भक्तिरस की अपेक्षा शृङ्गार आदि काव्य रस अति क्षुद्र हैं। जो अन्तर सूर्य में तथा खद्योतों में है ठीक वही अन्तर परिपूर्णरसा भगवद्रति में तथा शृङ्गार आदि रसों में है–

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।

खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।।[9]

आचार्य रूप गोस्वामी जी ने कहा है कि भक्ति रस के प्रकार के अन्तर्गत 'उज्ज्वल रस' ही प्रमुख रस है।

विभिन्न आचार्यों के मतों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि आचार्य अभिनवगुप्त एवं आचार्य भोज दोनों आत्मज्ञान से ही रस को सम्बद्ध करके मूल रस को स्थापित करते हैं। दोनों के मतों में मात्र दृष्टि भेद है, उनकी मान्यताओं में भेद नहीं है।

आचार्य भवभूति ने उस आत्मतत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न तो किया है, किन्तु इनका रसास्वाद संवदेना तक ही सीमित रहा। आचार्य नारायण और उन्हीं का अनुकरण करने वाले धर्मदत्त ने भी 'कल्पना' को ही रस का मूलतत्त्व स्वीकार करके 'अद्भुत को मूलरस' रूप में प्रतिष्ठापित किया। भक्तिरस मूलरस के रूप में वैष्णव आचार्यों ने आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक स्तर पर किया है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि उनके तर्कों का काव्यशास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक परीक्षण करना सम्भव नहीं है। उनकी इस स्थापना की सिद्धि भक्ति क्षेत्र में तथा आध्यात्मिक स्तर में ही सम्भव है। काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में मात्र आध्यात्मिक तर्कों के आश्रय से निर्धारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर ग्यारह तक रसों की सङ्ख्या मानी है। इन रसों में भी कई आचार्यों ने प्राधानता तथा अप्रधानता के दृष्टिकोण से अलग–अलग मूल रसों की कल्पना की है। आचार्य भरतमुनि ने स्वयं आठ रसों में से शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मानते हुये शेष अन्य चार रसों की उत्पत्ति इन्हीं चार रसों से ही मानी है।

****

[9]. मधुसूदन सरस्वती; भगवद्भक्तिरसायन 2.78।